

भौतिक विकास और पर्यावरण का कटुता-पूर्ण सम्बन्ध

डॉ० इन्दुशेखर उपाध्याय

एसो प्रोफेसर एवं अध्यक्ष- भूगोल विभाग सन्त तुलसीदास पी०जी० कालेज कादीपुर, सुलतानपुर(उ०प्र०)

इंग्लैण्ड में पुनर्जागरण आन्दोलन के फलस्वरूप औद्योगिक क्रान्ति ने विलासिता और भौतिकवादिता की आंधी उत्पन्न कर आध्यात्मिक बुनियाद को झकझोर दिया, दुर्भाग्य से यही विकास की पिपासा दो महायुद्धों एवं वर्तमान में सम्पूर्ण विश्व के अशांति का कारण बना है। 1947 के बाद भारत ने भी अपने को इसी विकास की चूहा दौड़ में सम्मिलित कर विस्मय एवं अंधकूप में स्वयं को फंसा दिया। औद्योगीकरण एवं वैश्वीकरण की लंगड़ी दौड़ में पूरी भारतीय सभ्यता का मानसिक, आर्थिक एवं आध्यात्मिक परित्याग कर प्राकृतिक सम्पदा का संरक्षण विकास के प्रतिकूल समझने लगे। लेकिन विलम्ब से ही सही अब सम्पूर्ण विश्व खासकर भारत में योजनाकारों के समझ में आने लगा है कि जल, वायु और धरती का प्रदूषण तथा वन विनाश सम्पूर्ण सभ्यता को मृत्यु की दहलीज पर पहुँचा दिया है। सबके सामने यह यक्ष प्रश्न मुंह बाये खड़ा है कि क्या हम अपनी आने वाली पीढ़ियों को प्राकृतिक सम्पदा विरासत में दे पायेंगे ? अन्तरिक्ष विजय की श्रृंखला में आज का मानव अन्य ग्रहों पर जीवन की प्रत्याशा की खोज में है। आज 'दुनिया मेरी जेब में' कहावत पूरी तरह चरितार्थ है। फिर भी सम्पूर्ण जैव-जगत संकटग्रस्त होता जा रहा है। भौतिक जीवन की सुलभता वृद्धि के साथ-साथ जीवन की क्षण-भंगुरता भी वृद्धिगामी होती जा रही है। सर्वविदित है कि सम्पूर्ण भौतिक विकास संसाधन विदोहन का परिणाम है। लेकिन विकास की पिपासा ने मानव को आज विनाश के दहलीज पर खड़ा कर दिया है। नित्य प्रति नये शोध एवं आंकड़ों का मायाजाल रचा जा रहा है। समाज से नैतिक मूल्यों का विलोपन होता जा रहा है। सम्पूर्ण पारिस्थितिक तंत्र 'नीचे से ऊपर' तक असंतुलन की चहारदीवारी में घिरता हुआ पूरी तरह प्रदूषित हो गया है। जबकि वर्तमान समय में अधिकांश शोध-संगोष्ठी, शोध-कार्य, लेखन एवं सरकारी योजनाएं पर्यावरण संरक्षण से सम्बन्धित हैं। देश में प्रतिवर्ष वृक्षारोपण के जितने आंकड़ें आ रहे हैं, अगर क्षेत्रफल की दृष्टि से उनका तुलनात्मक विवेचन किया जाय तो अब तक देश के कुल क्षेत्रफल से कहीं अधिक वृक्षारोपण हो गया है, लेकिन यथार्थ दृष्टव्य है। विचारणीय है कि इसके बाद भी पारिस्थितिक संतुलन उत्तरोत्तर बिगड़ता ही जा रहा है जो सम्पूर्ण विश्व के लिए भयंकर संकट है।

आज की तीव्र तकनीकी प्रगति, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नये पदार्थों तथा ऊर्जा के नये रूपों के समावेश, तेल, गैस, कोयले, तथा विभिन्न अयस्को व खनिजों के विदोहन, रासायनिक प्रयोग में हुई प्रगति तथा खाद्य पदार्थों में मिलाये जाने वाले पदार्थों रंगों तथा परिरक्षी व उर्वरकों आदि के फलस्वरूप उत्पादक और उपभोक्ता के रूप में मनुष्य एक नये कृत्रिम पर्यावरण में तथा उसके विविध तत्वों के एक नये तकनीक-जन्य, जैव-मण्डल, जैवतकनीक-मण्डल, के सम्पर्क में आ गया है। आज कल प्रकृति के साथ समाज की

अन्तक्रिया इतनी व्यापक हो गयी है कि उससे सम्पूर्ण जैव जगत के साथ जलवायुविक तन्त्रों को प्रभावित करने का संकट उत्पन्न हो गया है, जिसे पर्यावरणीय संकट के नाम से जाना जाता है। पर्यावरणीय विक्षोभ (असन्तुलन) का कारण औद्योगिकीकरण तथा नगरीकरण, ऊर्जा और कच्चे माल के पारम्परिक द्यस, जनसंख्या वृद्धि, जैव मण्डल की स्वतः नियामक क्रियाविधि के विघटन जीव जन्तुओं के खाद्य साधनों के विनाश और औद्योगिक तथा अन्य प्रदूषकों के नकारात्मक परिणामों के परिणामस्वरूप मनुष्य के आनुवंशिक अपविकास का खतरा बढ़ता जा रहा है।

वैज्ञानिक तथा तकनीकी प्रगति ने मनुष्य को प्रकृति पर अभूतपूर्व अधिकार प्रदान कर दिया है। हम शब्दशः पर्वतों को हटा सकते हैं, और विशाल रेगिस्तानों को उर्वर मरुद्यानों में परिणत कर सकते हैं। हम प्राकृतिक जगत में मौलिक परिवर्तन कर सकते हैं। हमारे उत्पादक व आर्थिक, वैज्ञानिक और तकनीकी कार्यकलाप अंतरिक्ष तक विस्तृत हो गये हैं। इसके साथ ही यह जाहिर हो गया है कि मानव प्राकृतिक तत्वों पर अन्तहीन अतिक्रमण तथा वगैर सोचे समझे उसमें बड़े बड़े परिवर्तन करके प्रकृति के साथ विवेकहीन व्यवहार नहीं कर सकता है। और वस्तुतः करना भी नहीं चाहिए। जलवायु परिवर्तन, वैश्विक ताप वृद्धि, शीत ऋतु में उष्णता का प्रकोप, सूनामी लहरों तथा समुद्री तूफान का आना, भूस्खलन, भूकम्प, विभिन्न नवीन विमारियों का प्रकोप, तनाव ग्रस्त मानव जीवन, आदि इसी का भयावह परिणाम है। हम उत्पादक कार्यों के द्वारा जैव-मण्डल में हुए परिवर्तनों के कारण उत्पन्न पारिस्थितिक-असन्तुलन की किसी भी दशा में नजरन्दाज नहीं कर सकते हैं।

आधुनिक पारिस्थितिक अनुसंधान ज्ञान प्राप्त हो गया है, कि जैव-मण्डल पर मानव के अनवरत, एकतरफा और अनियंत्रित प्रभाव से हमारी सभ्यता एक भौतिक एवं प्रौद्योगिक सभ्यता में परिवर्तित होती जा रही है। जिससे पृथ्वी पर सम्पूर्ण जैव-जगत के विनाश का खतरा परिलक्षित होने लगा है। इसलिए आवश्यक है कि हम पृथ्वी पर जीवन-प्रणाली के विभिन्न तत्वों पर अपने वैज्ञानिक प्रभाव को सावधानी पूर्वक देखते रहें। मौलिक प्राकृतिक-पर्यावरण को मनुष्य की अवश्यकताओं के अनुसार रूपान्तरित करना तथा प्रकृति की विनाशक शक्तियों जैसे - भूकम्प, चक्रवात, बाढ़, सूखा, हिमवर्षा, चुम्बकीय एवं सौर्य आंधियां, रेडियों सक्रियता, तथा अन्तरिक्षीय विकिरणों के विरुद्ध संघर्ष करना आवश्यक हो गया है। परन्तु ऐसा संघर्ष केवल उन्हीं नियमों के अनुसार किया जा सकता है, जिसके द्वारा जैव मण्डल एक अखण्ड एवं स्वतः नियामक प्रणाली के साथ में काम करता, तथा विकसित होता है। परन्तु आज यह प्रभाव इतने व्यापक हैं कि जैव-मण्डल वाह्य सहायता

एवं समाज की सहायता के विना मानव के विनाशक प्रभाव से संघर्ष नहीं किया जा सकता।

पारिस्थितिक असन्तुलन का प्रभाव समस्त जीवधारियों अर्थात् पृथ्वी की सम्पूर्ण जीवन प्रणाली पर पड़ सकता है। जिससे अनेक पक्षी, जानवर तथा पौधे बड़े पैमाने पर विलुप्त होते जा रहे हैं। पिछले 2000 वर्षों में जितनी जातियाँ विलुप्त हुई हैं, उसमें से 65 प्रतिशत से अधिक सन् 1900 के बाद हुई हैं। जैविक विदों की मान्यता है, कि पिछले 350 वर्षों से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक प्रति दस वर्ष में एक प्रजाति के प्राणि नष्ट हुए हैं। वर्तमान में प्रतिवर्ष एक प्रजाति विलुप्त हो रही है। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय रक्षा संगठन का अनुमान है कि लगभग 1000 प्रजातियों के विलुप्त होने का खतरा मडरा रहा है। पौधों की किसी एक जाति के लुप्त होने से कीटों, जानवरों तथा अन्य पौधों की 10 से 30 तक की प्रजातियाँ विलुप्त हो जाती है। यदि पृथ्वी के इस दरिद्रीकरण को रोका न गया तो वह दिन दूर नहीं, लोगों के चेतने के पहले ही जैव-मण्डल अविपर्यय रूप में बदल जायेगा। बेशक क्रम-विकास जारी रहेगा, लेकिन मूलतः विरूपित रूप में। इसलिए अब प्रकृति के साथ मधुर सम्बन्ध तथा नियोजित अन्तर्क्रिया की आवश्यकता है।

विचारणीय है कि मानव-प्रकृति सम्बन्ध में कटुता का मुख्य कारण मानव-समाज की भौतिक-वादी संस्कृति है। जिसका मूल उद्देश्य प्राकृतिक संसाधनों का अविवेकपूर्ण उपयोग, प्रकृति के प्रति शत्रुतापूर्ण व्यवहार और प्रकृति को बलपूर्वक अपने बश में करने की भावना। इस संस्कृति का दर्शन जड़ों क्रिश्चियन धार्मिक परम्परा की देन है जिसके अनुसार प्रकृति की समस्त वस्तुओं पर मनुष्य का अधिकार है। और उसे अपनी इच्छानुसार उपयोग करना चाहिए। यही कारण है कि संसाधनों के विदोहन में मानव संवेदनहीन मार्ग का अनुसरण करके स्वयं को प्रगतिशील करता रहा, और पर्यावरणीय तत्वों को पंगु बनाता रहा है, जिसका परिणाम आज सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा है। मानव जो सृष्टि की स्रष्टा का सर्वोत्तम कलाकृति है, केवल पर्यावरण सन्तुलन के विषय में सोचता रहा। पश्चिमी देशों के विचारकों में शुरु से ही पर्यावरणवाद और साम्यवाद का वैचारिक मन्थन होता रहा। इस ढ्वन्द्व का ही परिणाम रहा कि भौतिकवादी संस्कृति में आर्थिक मानव का प्रभाव आध्यात्मिक मानव से ऊपर माना जाता रहा। परन्तु भारत सदैव से प्रकृति के प्रति संवेदनशील रहा है। जिसके कारण यहाँ कोटिशः वर्षों की मानवीय संस्कृति में ऐसा संकट कभी उत्पन्न नहीं हुआ कुछ दशक की प्रगति में देखने को मिल रहा है। आज भौतिक मानव की सभ्यता की दौड़, हाथ में ग्रेनेड बम लिए बन्दर के समान है। यह किसी को नहीं मालूम कि कब और कहाँ बन्दर ग्रेनेड का प्रहार कर देगा, और विश्व विनाश की दहलीज पर पहुँच जायेगा।

इसलिए आवश्यकता है कि सम्पूर्ण पृथ्वी पर प्रकृति के प्रति समन्वित संविकास का दृष्टिकोण अपनाया जाय। भारत में पर्यावरणीय शिक्षा का प्राचीन स्वरूप आचरण परक रहा है। भारत में

मनीषियों ने पर्यावरणीय शिक्षा को जन जन तक पहुँचाने के लिए धर्म और सामाजिक परम्पराओं का सहारा लिया। फलतः पर्यावरणीय निर्देशों को धार्मिक और सामाजिक निर्देश बना लिया गया, जो साधारण जन के आचरण के आधार बन गये। फलतः पर्यावरणीय आचरण परक बन जाने के कारण भारत में हजारों साल तक किसी प्रकार की पर्यावरणीय कठिनाईयों उत्पन्न नहीं हुईं। आधुनिक काल में धर्म के प्रति बढ़ती अरुचि और सामाजिक उत्थान के लिए पश्चिमी समाज के अनुकरण के कारण न तो पुरानी पद्धति सशक्त रह सकी, न ही नयी विधि पर ध्यान दिया गया। ऐसी दशा में जहाँ गंगा जैसी पवित्र नदी को जो जीवन की गुणवत्ता की प्रतीक भी थी, प्रदूषित किया जा रहा है। वन विनाश भी ऐसे ही आचरण का परिणाम है। 1972 के स्टाकहोम संगोष्ठी के बाद विश्वस्तर पर पर्यावरणीय शिक्षा के प्रति जो जागरूकता आयी, उससे भारत भी प्रभावित हुआ।

पर्यावरणीय शिक्षा मात्र ज्ञान वृद्धि नहीं है, अपितु जीवन शैली से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसकी व्यवहारिकता इस बात से प्रमाणित है कि जीवन को निरापद बनाने के लिए प्राकृतिक उपादानों के उपयोग और संरक्षण का ज्ञान प्राप्त होता है। आज प्रदूषण की जो भयावह स्थिति नगरो में देखने को मिलती है, उसके कारण और निवारण के लिए नवचेतना जागृत करना पर्यावरणीय शिक्षा का व्यवहारिक पक्ष है। जैसे प्लास्टिक एवं पालीथीन से बनी वस्तुएँ मोहक और सुविधाजनक अवश्य लगती हैं, लेकिन इनसे उत्पन्न अपशिष्ट का निष्पादन संकट पैदा कर दिया है। इसके निवारण के लिए जनचेतना सर्वाधिक उपयुक्त उपाय है। पर्यावरणीय चेतना को गम्भीरता से लेने का ही परिणाम है कि सर्वोच्च न्यायालय को गंगा के किनारे स्थापित कारखानों को बन्द करने का आदेश देना पड़ा, जिससे गंगा जल की शुद्धता बनी रहे। भारत सरकार भी इसके लिए कृतसंकल्प है, किन्तु परिणाम अभी सन्तोषजनक नहीं है।

पर्यावरण चेतना और शिक्षा प्रदान करने का दायित्व किसका है ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। आधुनिक सन्दर्भ में यह दायित्व शासन का समझा जाता है जो उचित नहीं है। वास्तव में पर्यावरणीय शिक्षा का दायित्व समूचे समाज का है, क्यों कि वह सामूहिक और व्यक्तिगत दोनों रूपों में प्रकृति से अन्तर्क्रिया करता है। यही कारण है कि भारत में वाछित सफलता नहीं मिल पा रही है, क्यों कि सामाजिक भागीदारी नगण्य है जो है भी वह समाचार पत्रों में सिमटकर रह गयी है। कुछ क्षेत्रों जैसे वानिकी आदि में सामाजिक भागीदारी को बढ़ावा दिया जा रहा है। वस्तुतः पर्यावरणीय शिक्षा का प्रथम दायित्व माता-पिता का होता है, जो बच्चों में प्रकृति के प्रति चैतन्यता का अवबोध कराते हैं। दूसरे स्तर पर शिक्षक और प्रशिक्षक की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसके लिए सरकार और समाज दोनों को अपनी सीमाओं में सफल भागीदारी करनी चाहिए, तभी देश की प्रकृति-परायणता पुनः स्थापित हो सकेगी।